

# बाजारवाद का सिनेमा पर प्रभाव

अभिषेक त्रिपाठी

## सारांश

सिनेमा अभिव्यक्ति की एक सशक्त विधा है। कम समय में लाखों-करोड़ों लोगों तक अपनी बात पहुँचाने की ताकत इस विधा में सन्निहित है। अन्य रचनात्मक माध्यमों से इतर यह विशिष्टतः तकनीकी पर अवलंबित है। तकनीकी पर निर्भरता और भारी-भरकम टीम की आवश्यकता इस विधा को खर्चीला भी बनाती है। किसी बड़ी फिल्म को बनाने में सैकड़ों लोगों की मेहनत शामिल होती है। समसामयिक स्थिति के हिसाब से बात करें तो एक फिल्म के बनने और सिनेमाघरों तक आने में करोड़ों-अरबों खर्च हो जाते हैं। ऐसे में फिल्म सिर्फ रचनात्मक विधा न रहकर, किसी कारखाने में बनने वाले एक ऐसे उत्पाद के रूप में परिणत हो जाती है, जिसके निर्माण के आगे-पीछे हर चरण पर मुनाफा प्राथमिक हो जाता है। इस शोध पत्र में फिल्म और उससे संलग्न मुनाफे की वृत्ति, तदंतर बाजारवाद का उस पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन विश्लेषण किया गया है।

मुख्य शब्द

बाजारवाद,

सिनेमा।

हम इक्कीसवीं सदी में निवास कर रहे हैं। अर्थ युग..., ऐसा युग जिसके संबंध में निर्दिष्ट पंक्ति बिल्कुल सटीक बैठती है- “बाप बड़ा न भैया, सबसे बड़ा रूपैया...!” ऐसा समय जिसमें बाजार एक मजबूत भूमिका में विराजित है। बाजार पर अवलंबित वाद अर्थात् बाजारवाद (जिसमें मुनाफा केंद्र में होता है; समस्त व्यवस्था उसी के अनुरूप संचालित होती है) का प्रभाव आज सब पर परिलक्षित है। इसे स्पष्टतः देखा जा सकता है, सघनता से महसूस किया जा सकता है। मनुष्य को नियंत्रित करने वाले ऐसे जटिल अर्थ तंत्र का प्रभाव पहले कभी भी इतनी तीव्रता के साथ नहीं रहा। आज जीवन का हर पक्ष बाजार के मुताबिक तय हो रहा है। बाजार ही निर्धारक और नियामक है। बाजार की पैठ घर-गृहस्थी से लेकर रिशतों की गहराई तक में है; यूँ कहें कि आज का मनुष्य आकंठ बाजार के आगोश में समाया हुआ है, तो गलत नहीं होगा।

बात चाहे घर की हो या दुकान की, राजनीति की हो या समाज सेवा की, सिनेमा की हो या आई0पी0एल0 मैच की, और अन्ततोगत्वा शिक्षा की हो या संस्कृति की, सब पर बाजारवाद हावी है। एक बेहद व्यापक कैमवास पर बाजारवाद के स्वरूप, स्थिति, भूमिका और प्रभाव को महसूस किया जा सकता है। सिनेमा पर बाजारवाद के प्रभाव को

भली भाँति समझने के लिए यह आवश्यक है कि पहले सिनेमा से जुड़े कुछ तथ्यों को समझ लिया जाय। सिनेमा से जुड़े लोगों का यदि वर्गीकरण किया जाए तो तीन वर्ग बनेंगे-

प्रथम- वे लोग जिनके लिए यह लाभ कमाने का एक साधन है; ठीक वैसे ही जैसे अन्य उद्योग। इस वर्ग में निर्माता, वितरक, फाइनेंसर को रखा जा सकता है।

द्वितीय- वे लोग जिनके लिए यह क्षेत्र अन्य रोजगार क्षेत्रों जैसा ही है, जहाँ उनको जीवन निर्वाह हेतु कार्य करने का मौका मिलता है। जैसे- टेकनीशियन, प्रबंधक, विभिन्न स्तरों पर अलग-अलग रूपों में काम करने वाले विविध कुशल और अकुशल कामगार इत्यादि।

तृतीय- वे लोग या कलाकार जिनकी सृजनात्मक क्षमता के बलबूते फिल्म यथार्थ रूप ग्रहण करती है। इस समूह में फिल्म निर्देशक, पटकथा और संवाद लेखक, गीतकार, संगीतकार, अभिनेता, कैमरामैन आदि को शामिल किया जा सकता है। इस संवर्ग के लोगों की मिली जुली कलात्मक क्षमताओं के समुच्चय से ही फिल्म की रचना होती है।

द्वितीय एवं तृतीय वर्ग के लोगों की क्षमता को फिल्म निर्माता खरीदता है और उसके बदले उनको एक तय राशि देता है। यहाँ द्वितीय वर्ग के लोगों की स्थिति तृतीय वर्ग के लोगों से तुलनात्मक रूप में कमजोर होती है, और वे सिर्फ कामगार की भूमिका तक ही सीमित होते हैं। उनके लिए सिनेमा केवल आजीविका कमाने का एक साधन मात्र है और वहाँ वे दिहाड़ी या महीने की तनख्वाह पर कार्य करते हैं। तीसरे संवर्ग के लोगों के लिए भी सिनेमा धनोपार्जन का एक माध्यम होता है; बावजूद इसके सिनेमा इनके लिए केवल और केवल एक उद्योग मात्र नहीं है (पहले और दूसरे वर्ग की तुलना में; यद्यपि यह स्थिति भी बदल गई है।)

फिल्म निर्माण के यथार्थ रूप का मूल्यांकन करें तो स्पष्ट होता है कि तीसरे वर्ग के भी बहुत से लोग दूसरे वर्ग के लोगों की तरह सिनेमा में एक कामगार की तरह ही हैं। जहाँ काम की उपलब्धता और बाजार में उनकी लोकप्रियता और माँग, उनकी मजदूरी (मेहनताना) तय करती है। यद्यपि तीसरे वर्ग के कुछ लोगों की स्थिति उत्कृष्ट और बेहद प्रभावी भी होती है। ये वैसे लोग होते हैं, जिनकी लोकप्रियता आसमान छूती है। उनकी कलात्मक क्षमता और लोकप्रियता उन्हें अपने मेहनताने के निर्धारण में मुख्य भूमिका प्रदान कर देती है। इस वर्ग में जो कलाकार बाजार में जितना अधिक लोकप्रिय होता है, वह अपने श्रम को उतनी ऊँची कीमत पर बेचता है और अपनी स्थिति को उतना ही अधिक मजबूत बना लेता है। इस तरह फिल्म विधा में ये लोग अपनी माँग के अनुसार अत्यंत प्रभावी भूमिका में भी आ सकते हैं।

फिल्म विधा के मूल तासीर को समझने के बाद यह स्पष्ट है कि फिल्म निर्माण के केंद्र में संसाधन महत्वपूर्ण है। यह संसाधन तकनीकी भी हो सकता है, वित्तीय भी, और साथ ही साथ मानवीय भी। छोटे-मोटे स्तर पर फिल्म निर्माण के लिए भले उक्त पक्षों में समझौता कर लिया जाए, परंतु बड़े स्तर पर फिल्म निर्माण के लिए इनसे समझौता संभव नहीं है। फिल्म के लिए आवश्यक सभी संसाधनों का मूल पूँजी है। बड़ी और प्रभावी फिल्म निर्माण और साथ ही साथ बाजार

के विशाल क्षेत्र तक उसके पहुँच के लिए विशाल पूँजी अनिवार्यतः अपेक्षित है। फिल्म के बाजार पर गौर करने पर एक और पक्ष स्पष्ट होता है, बड़े बजट और बैनर की फिल्में भी बहुत बार बाजार में कुछ खास कमाल नहीं कर पातीं, और उनकी मूल पूँजी पर भी संकट खड़ा हो जाता है।

उक्त स्थिति-परिस्थिति में फिल्म निर्माता के लिए फिल्म, रचनात्मक अभिव्यक्ति के माध्यम से बहुत आगे बढ़कर एक बाजारू उत्पाद हो जाता है; जिसके पीछे पूँजी इस उद्देश्य के साथ लगाई जाती है कि बदले में भारी मुनाफा कमाया जा सके। फिल्म निर्माण हेतु आवश्यक विशाल पूँजी और वितरण-प्रदर्शन के वक्त बाजार के जोखिम के कारण फिल्म निर्माता बॉक्स ऑफिस की चिंता से मुक्त नहीं हो पाते; और इस तरह फिल्म एक विशुद्ध व्यवसाय का रूप ग्रहण करता चला जाता है।

उक्त व्यावहारिक स्थिति में जो रचनाधर्मी मनुष्य इस विधा से जुड़े होते हैं, और जिनमें कुछ सर्जनात्मक रचने की तड़प होती है, वह भी बाजार के कठोर परिस्थिति के सामने टिक नहीं पाते और शीघ्र ही यथार्थ से समझौता कर व्यवसायी या, मजदूर बन जाते हैं। उनका ध्यान पूर्णतः बाजार की माँग पर केंद्रित हो जाता है। बाजार के अनुकूल पटकथा लिखी जाती है, उसी के अनुरूप संवाद गढ़े जाते हैं, उसी के अनुरूप अभिनेताओं का चुनाव होता है। आइटम नंबर से लेकर अश्लील दृश्यों तक बाजार की माँग के हिसाब से जबरन फिल्म में डाले जाते हैं। यही कारण है कि बाजार के इस चरम प्रभाव में कोई भी फिल्मकार यह दावा नहीं कर सकता कि उसके द्वारा निर्मित फिल्म वैसी ही है, जैसी उसने पूर्व में कल्पना की थी।

बाजार के केंद्र में उपभोक्ता होता है। उपभोक्ता को साधकर ही बाजार फलता-फूलता है। मुनाफे के धंधे में उतरने के बाद फिल्मकार भी उपभोक्ता को साधने और लुभाने का प्रयत्न करते हैं। वे हमेशा उस बाजार की खोज में रहते हैं, जहाँ वे अपने फिल्मी उत्पाद के लिए दर्शकों की भीड़ इकट्ठा कर सकें। फिल्म निर्माताओं की कोशिश होती है कि ऐसी फिल्में बनाई जाएँ कि उनके विक्रय में कम खतरा हो।

फिल्म निर्माण में लगने वाली इफरात पूँजी, जन बल और बाजार के विशाल आकार के कारण फिल्म किस तरह बाजार की गुलाम बनी, इस संबंध में सत्यजित रे ने बिल्कुल स्पष्ट शब्दों में ठीक ही लिखा है- “यंत्र युग का अवदान यह यांत्रिक शिल्प सिनेमा व्यवसाय एक ऐसी स्थिति में आकर खड़ा हो गया है कि प्रचुर धनराशि खर्च किए बिना फिल्म बनाना बिल्कुल अंसंभव है- तस्वीर बनाने के आरंभिक उपकरण, कैमरा और फिल्म- इन दो वस्तुओं की बहुत अधिक कीमत चुकानी पड़ती है। यूनिट के सभी लोगों और स्टूडियों का किराया चुकाने के बाद भी विज्ञापन आदि के खर्चे बचे रहते हैं। कुल मिलाकर एक सरल आडम्बरहीन तस्वीर के खर्च की संख्या लाख की सीमा लाँघ जाती है और अगर तड़क-भड़कदार तस्वीर हो तो क्या कहना! इस व्यय सापेक्ष सिनेमा व्यवसाय को बाध्य होकर व्यवसायियों से हाथ मिलाना पड़ा।”

सिनेमा की इस दशा, यूँ कहें कि मजबूरी की पीड़ा उन रचनाधर्मियों को भुगतनी पड़ती है, जिनके लिए सिनेमा रचनात्मक अभिव्यक्ति का एक सशक्त माध्यम है। सिनेमा को बाजार का विशुद्ध उत्पाद बनाने में सिनेमा के पीछे आ खड़े हुए व्यापारी और उनकी व्यापारिक प्रवृत्तियों की भी महती भूमिका है, जो अपने व्यापार के आगे सिनेमा के और किसी पक्ष की रत्ती भर भी परवाह नहीं करते। प्रसिद्ध रंगकर्मी, सिने कर्मी उत्पल दत्त इस कोटि के व्यवसायियों पर अपना गुस्सा इन शब्दों में प्रकट करते हैं- “इस देश में कुछ अनैतिक और पूरी तरह से सनकी पूँजीपति सारे स्रोतों, उत्पादनों, वितरण व्यवस्था तथा मुनाफे को नियंत्रित करते हैं। उनका दावा है कि वे जनता का मनोरंजन करते हैं, और इसके लिए क्या साधन इस्तेमाल करते हैं, इसमें नैतिकता का प्रश्न उनके लिए कोई मायने नहीं रखता।....”

वैसे बिल्कुल व्यावहारिक दृष्टि से व्यापारियों की इस प्रवृत्ति का मूल्यांकन किया जाए तो शायद व्यापारियों पर सीधे-सीधे प्रश्न खड़ा करना भी मुश्किल होगा। इसका कारण स्पष्ट है; कला, साहित्य या किसी भी सर्जनात्मक विधा को यदि कोई व्यवसायी संरक्षण देता है, या उसके पीछे अपनी पूँजी लगाता है, तो उसकी व्यापारिक बुद्धि उसे अपने मुनाफे से परे जाकर सोचने का मौका देगी, ऐसा व्यवहारतः सम्भव नहीं है। पूँजी निवेश के बाद व्यापारी संबद्ध माध्यम का इस्तेमाल अपने पक्ष में करना चाहता है। इस पक्ष के समर्थन में राजतंत्र की स्थितियों को दृष्टांत के तौर पर लिया जा सकता है। राजशाही व्यवस्था में जब राजा-रजवाड़े कवियों को अपने दरबार में संरक्षण और राजकीय सुरक्षा दिया करते थे, तो बदले में उन कवियों को राजा-महाराजाओं की प्रशस्ति में भाँति-भाँति की कविताओं का सृजन करना ही पड़ता था। तमाम तरह के रासो इसी व्यवस्था की परिणती के रूप में ही आज हमारे सामने मौजूद हैं।

पूँजीपति के लिए धन सर्वोच्च है। कला, दर्शन, समाज उनके लिए गौण है। उनकी पहली प्राथमिकता पूँजी की सुरक्षा और मुनाफा ही है। उनके लिए कलाकार, रचनाकार, दार्शनिक आदि सभी एक ही वर्ग में आते हैं। ये सभी समाज को प्रभावित कर सकते हैं, और पूँजीपति उनके प्रभाव का अपने पक्ष में उपयोग करना चाहता है। यही कारण है कि पूँजीपतियों के प्रभाव में फिल्म भी कला माध्यम से आगे बढ़कर किसी कारखाने में बनने वाले उत्पाद की तरह हो जाती है। इस संबंध में उत्पल दत्त ने कटाक्ष भी किया है- “बम्बई में फिल्में वैसे ही बनती हैं जैसे किसी जूते की फैक्ट्री में जूते। वह लोग कहते हैं कि लोग ऐसी ही फिल्में चाहते हैं। जबकि लोगों को सांस्कृतिक पराभव के लिए परिचालित किया जाता है।”

फिल्म से जुड़े लोगों के वर्गीकरण में पहली श्रेणी में शुमार निर्माता, वितरक, फाइनेंसर, ये सभी मूलतः व्यापारी ही होते हैं। अन्य उद्योग-धंधों की तरह फिल्म भी इनके लिए एक धंधा ही है। बाजार की आबोहवा में बहना इनकी प्रवृत्ति में शामिल है। बाजार की माँग होने पर यह कुछ भी बनाने और बेचने को तत्पर होते हैं। कोई व्यक्ति चाहे कितनी भी अच्छी कहानी लेकर किसी निर्माता के पास क्यों न पहुँचे जाए, वह तब तक किसी निर्माता, फाइनेंसर को फिल्म बनाने के लिए धन लगाने हेतु सहमत नहीं कर पाएगा, जब तक कि उसकी कहानी बाजार की कसौटी पर खरी नहीं उतरती। यदि कोई व्यक्ति यत्र तत्र कहीं से धन की व्यवस्था कर अपने हिसाब से फिल्म बनाने में कामयाब भी हो जाए तो भी बहुधा उसकी फिल्म बाजार के इन खिलाड़ियों के आगे घुटने टेकने पर विवश हो जाती है। इधर के दिनों में नेटफ्लिक्स

आदि इंटरनेट माध्यमों के आने से स्थिति में थोड़ा सा परिवर्तन हुआ है; पर यह परिवर्तन भी ऊंट के मुँह में जीरा जैसा ही है।

बाजारवाद का आज सिनेमा पर इतना गहरा प्रभाव है कि इस बाजार के स्थापित मठाधीशों के मठ से गुजरे वगैरे फिल्मों सिनेमाहॉलों तक आ ही नहीं सकती, भले ही वे कितनी ही बेहतरीन और स्तरीय क्यों न हों! बहुधा सिनेमाहॉलों पर इन स्थापित खिलाड़ियों का ही घोषित या अघोषित अधिकार है। ये खिलाड़ी उन्हीं फिल्मों को इन सिनेमाहॉलों तक और अन्ततोगत्वा विशाल दर्शकसमूह तक पहुँचाने देते हैं जिनसे इनके खजाने इफरात मात्रा में भर जाने की संभावना प्रबल हो; ये फिल्मों भले ही कला की कसौटी पर खरा उतरे या नहीं। फिल्मों को बस इनकी मानकों पर खरा उतरना अपरिहार्य है। इनकी कसौटी से वही फिल्में पार होती हैं जो दर्शकों को येन-केन-प्रकारेण किसी भी तरह सिनेमाघरों तक खींच लाने की क्षमता से लैस हों; उसके लिए भले ही हीरोइन को अपने अन्तःवस्त्र में क्यों न आना पड़े! फिल्म में सब कुछ चलेगा, बस भारी मुनाफे की संभावना हो!

फिल्मी कारोबार निरंतर बढ़ रहा है। उसमें लगाने वाले पूँजी की मात्रा भी अब आसमान छू रही है। फिल्म निर्माण में अब बड़ी-बड़ी कॉर्पोरेट कम्पनियाँ कूद पड़ी हैं। बड़ी बजट की फिल्मों पर तो आज के समय में इस हद तक दाँव लगा होता है कि बॉक्स ऑफिस पर उनका पिटना पूरी इंडस्ट्री में मंदी का कारण बन जाता है। इस आबोहवा में कोई भी निर्माता नुकसान उठाना नहीं चाहता। अरबों की बजट और वर्षों की मेहनत के तकदीर का फैसला फिल्म रिलीज के एक सप्ताह के अंदर हो जाता है। ऐसी स्थिति में किसी भी फिल्म निर्माता के लिए फिल्म प्रदर्शन का पहला सप्ताह बहुत ही महत्वपूर्ण होता है। इस पहले हफ्ते में दर्शकों को सिनेमाहॉल तक खींचने के लिए सारे हथकंडे अपनाए जाते हैं। प्रचार-प्रसार के नानाविध तौर-तरीके अपनाए जाते हैं। फिल्म का एक बड़ा हिस्सा प्रचार-प्रसार पर ही खर्च कर दिया जाता है। बहुत बार तो यह लागत फिल्म की लागत के बराबर तक बैठ जाती है।

सिनेमा को उक्त गतिविधियों का फायदा भी मिलता है। बाजारवाद के इस दौर में सिनेमा, धन तो खूब कमा रहा है; इस बात की अनदेखी नहीं की जा सकती। फिल्मों की कमाई अब करोड़ों को लाँघकर अरबों में पहुँच गयी है। सिनेमा उद्योग में धन की गंगा बह रही है। यह उद्योग सिंगल स्क्रीन सिनेमा से आगे बढ़कर मल्टीप्लेक्स तक पहुँच गया है; और इसके आगे भी प्रयास जारी है। 3-डी तकनीकी भी अब पुरानी पड़ने लगी है। टिकटों का मूल्य सौ-पचास को बहुत पीछे छोड़ कई सैकड़ और हजार हो गया है। मनोरंजन पसंद और नवधनाढ्यों की पीढ़ी बहुत ही सहजता के साथ इस मूल्य को भी चूकाने को तैयार खड़ी है। इस मूल्य के बाद भी मल्टीप्लेक्स के सामने भीड़ है। मल्टीप्लेक्स संस्कृति ने सिनेमा को खूब लाभ पहुँचाया है।

इसमें कहीं कोई दो मत नहीं है कि बाजारवाद से सिनेमा का विस्तार हुआ है, और इसने सिनेमा को लाभ भी पहुँचाया है; इसके बाद भी इस पक्ष की अनदेखी नहीं की जा सकती है कि इसने सिनेमा की मूल छवि को चोटिल भी किया है। मुनाफा ही एक मात्र लक्ष्य बनकर सिनेमा की गहराई को उथला बना रहा है। सिनेमा के मूल स्वरूप को समझते

हुए इस बात को नकारा नहीं जा सकता कि इस हेतु आर्थिक सुरक्षा अपेक्षित है, पर इसे ही सर्वोपरि मान लेना इसकी गुणवत्ता को आज नहीं तो कल नष्ट-भ्रष्ट कर देगा। सिनेमा से जुड़े पूँजीपति लोगों के लिए अपनी पूँजी सुरक्षा के अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि वे बाजार के साथ इससे जुड़े लोगों की सर्जन क्षमता और कलात्मकता को भी समझें और इसे किसी कारखाने के उत्पाद से अच्छी गति प्रदान करें। इसके अतिरिक्त कला सर्जकों से सिनेमा की कलात्मकता में अभिवृद्धि एवं बाजार की गुलामी से बचने हेतु अन्य समानांतर उपाय सोचने-समझने और उसे मूर्त रूप देने की भी अनिवार्यतः अपेक्षा है।

### संदर्भ सूची-

- I. दिलचस्प. (2009). हिंदी सिनेमा के सौ वर्ष. नई दिल्ली : भारतीय पुस्तक परिषद.
- II. सिन्हा, प्रसून. (2006). भारतीय सिनेमा- एक अनंत यात्रा. दिल्ली : श्री नटराज प्रकाशन.
- III. पारख, जवरीमल्ल. (2006). हिन्दी सिनेमा का समाजशास्त्र. नई दिल्ली : ग्रंथ शिल्पी.
- IV. अग्रवाल, प्रह्लाद. (2007). बाजार के बाजीगर. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन.
- V. नकवी, हेना. (2010). पत्रकारिता एवं जनसंचार. आगरा : उपकार प्रकाशन.

